रसीद का दर्शन

कुमार कौशिक रंजन[1]

मनुष्य का जीवन मूलतः एक लेन-देन है।

कुछ हम देते हैं, कुछ हम लेते हैं—और बीच में कहीं एक रसीद बनती है, जिसे हम या तो संभालकर रखते हैं, या कूड़ेदान में डाल देते हैं।

रसीद एक अजीब प्राणी है।

खरीदते समय अत्यंत आवश्यक,

घर पहुँचते ही अत्यंत अनावश्यक।

दुकानदार पूछता है—"रसीद चाहिए?"

और ग्राहक, जो अभी-अभी अपने ही पैसों से अपना ही सामान खरीदकर आया है, अचानक दार्शनिक हो उठता है—

"नहीं, रहने दीजिए।"

यह "रहने दीजिए" वास्तव में एक गहरा वक्तव्य है।

यह उस विश्वास का प्रतीक है जो हम समाज, व्यवस्था, और विशेषतः अपनी स्मृति पर करते हैं।

क्योंकि हम जानते हैं कि कल अगर यह सामान खराब निकला,

तो न दुकानवाला हमें पहचानेगा,

न हम उसे पहचानना चाहेंगे।

रसीद इसलिए भी रोचक है क्योंकि यह सत्य का एक प्रमाण है—

परंतु ऐसा सत्य, जिसे कोई देखना नहीं चाहता।

जैसे ही हम घर पहुँचते हैं, रसीद का अस्तित्व संकट में आ जाता है।

वह जेब से निकलकर मेज पर आती है,

मेज से फर्श पर,

---

[1] वरिष्ठ सहायक प्राध्यापक, यांत्रिक अभियांत्रिकी विभाग, टोलानी मैरीटाइम इंस्टीट्यूट, पुणे (भारत)

और अंततः फर्श से कूड़ेदान में—

एक यात्रा, जो किसी भी भारतीय दार्शनिक परंपरा से कम जटिल नहीं है।

कुछ लोग रसीद संभालकर रखते हैं।

ये लोग समाज में "सतर्क नागरिक" कहलाते हैं।

इनके घर में एक विशेष दराज़ होती है—

जिसमें रसीदें, पुराने बिजली बिल, और कभी-कभी अधूरी इच्छाएँ भी सुरक्षित रखी जाती हैं।

ये वही लोग हैं जो पाँच साल बाद भी किसी दुकान पर जाकर कह सकते हैं—

"देखिए, 2019 में आपने मुझे यह मिक्सर दिया था..."

और दुकानदार, जो अब तक तीन बार दुकान बदल चुका होता है,

उन्हें ऐसे देखता है जैसे इतिहास का कोई पन्ना अचानक जीवित हो उठा हो।

परंतु अधिकांश लोग रसीद को त्याग देते हैं।

क्योंकि त्याग हमारे संस्कार में है—

हम वस्त्र त्यागते हैं, मोह त्यागते हैं, और रसीद भी।

मजेदार बात यह है कि हम डिजिटल युग में भी रसीद से मुक्त नहीं हो पाए हैं।

अब वह ईमेल में आती है,

एसएमएस में आती है,

और कभी-कभी ऐप के नोटिफिकेशन में भी।

अब हम उसे फेंक नहीं सकते—

इसलिए हम उसे "अनरीड" छोड़ देते हैं।

यह आधुनिक त्याग है—

न स्वीकार, न अस्वीकार।

रसीद दरअसल हमारे अस्तित्व का एक छोटा-सा दस्तावेज़ है।

यह बताती है कि हमने क्या खरीदा, कब खरीदा, और कितने में खरीदा—

पर यह नहीं बताती कि हमने क्यों खरीदा।

और शायद यही कारण है कि हम उससे बचते हैं।

क्योंकि "क्यों" का उत्तर देना,

हमेशा "कितने" का उत्तर देने से कठिन होता है।

अंततः, जीवन की सबसे बड़ी विडंबना यही है—

कि हम हर लेन-देन की रसीद तो रखते हैं,

पर अपने ही कर्मों की रसीद से बचते रहते हैं।

और जब कभी कोई अदृश्य दुकानदार हमसे पूछता है—

"रसीद चाहिए?"

तो हम मुस्कुरा कर कहते हैं—

"नहीं, रहने दीजिए..."

*****